जैन दर्शन में संथारा

–डॉ. रज्जन कुमार[1]

वर्त्तमान युग में ऐच्छिक मृत्युवरण का प्रश्न बहुचर्चित रहा है। व्यक्ति को स्वेच्छापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने का अधिकार है या नहीं यह आधुनिक नीति-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसके साथ ही यह प्रश्न भी बहुचर्चित है कि क्या इच्छापूर्वक शरीर त्याग के सभी प्रयत्न आत्महत्या की कोटि में आते हैं अथवा नहीं? नीति और धर्म-दर्शन के विद्वानों के इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। इसी प्रकार असाध्य रोग से या असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति अपना जीवन समाप्त कर देना चाहता है तो क्या उसे मृत्युदान देने वाला व्यक्ति हत्या का अपराधी है अथवा वह स्वयं आत्महत्या का दोषी है। आज ये सभी प्रश्न नैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से गंभीर चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं।

प्राचीन सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में ऐच्छिक मृत्युवरण को स्वीकृत किया जाता रहा है। भारतवर्ष में पर्वत या वृक्ष से गिरकर अथवा अपने शीश या अंग विशेष की बलि चढ़ाकर मृत्यु प्राप्त करने की परम्परा प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। ये सभी मृत्यु प्राप्त करने के वीभत्स ढंग हैं जिन्हें अनुचित माना जाता रहा है और इनका विरोध भी हुआ है। लेकिन जैनधर्म में संथारा के रूप में मृत्युवरण की प्रथा प्राचीन काल से लेकर आज तक अबाधगति से चली आ रही है। कभी भी इसका विरोध नहीं हुआ है। यह मृत्यु प्राप्त करने की एक ऐसी कला है जिसे महोत्सव के रूप में मनाया जाता है। जैन परम्परा में इसे कई नामों से अभिहित किया गया है–संलेखना, संथारा, समाधिमरण, संन्यासमरण, मृत्यु-महोत्सव, सकाममरण, उद्युक्तमरण, अंतक्रिया आदि। प्रस्तुत निबंध में जैनधर्म में वर्णित संथारा के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

स्वरूप–संथारा या संलेखना के स्वरूप पर प्रकाश डालने से पहले हम यह जान लें कि वस्तुतः यह है क्या? जीवन की अंतिम बेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में जिसमें जान जाने की पूरी संभावना है के समय सभी तरह के भावों से मुक्त होकर संपूर्ण आहार त्याग करके आने वाली मृत्यु की प्रतीक्षा करने का नाम ही संथारा है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार ''उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, असाध्य रोग अथवा इसी तरह की अन्य प्राणघातक अनिवार्य परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर धर्म की रक्षा अथवा समभाव की साधना के लिए जो देहत्याग किया जाता है वह संथारा के नाम से जाना जाता है।''[2]

संथारा में जो देहत्याग किया जाता है उसके पीछे देह में उत्पन्न होने वाले कष्टों से बचने का भाव नहीं रहता है। यहाँ व्यक्ति के मन में धर्म-रक्षा का भाव रहता है। मनुष्य जब तक जीवित रहता है वह कुछ न कुछ करता ही रहता है। अपने कार्य-संपादन के लिए उसे अन्य व्यक्तियों का सहयोग लेना पड़ता है, लेकिन कुछ ऐसे कार्य हैं जिन्हें वह स्वयं अपने दैहिक अंगों की सहायता से करता है। दुर्भाग्यवश यदि वह अपने इस कार्य का संपादन स्वयं नहीं कर पाता है। उन अंगों में पुनः शक्ति का संचार होना संभव नहीं है. वह वनस्पति की तरह जीवित शरीर मात्र है तथा वह जो भी आहार ग्रहण कर रहा है वह शरीर में नहीं लग रहा है अर्थात् उसका शरीर आहार ग्रहण नहीं कर पा रहा है. उसे बचाने के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। उसका जीवन भार स्वरूप हो गया है। सेवा करने वाले तथा सेवा लेने वाले दोनों थक गए हों, तो ऐसे समय व्यक्ति द्वारा आहार त्याग करने का संकल्प ही संथारा है क्योंकि उस व्यक्ति को यह भान हो जाता है कि शरीर को सेवा देने से कोई लाभ नहीं होने वाला है। उत्तराध्ययन में इसे पंडितमरण कहा गया है।[3]

समय–अब प्रश्न उठता है कि संथारा लेने का उपयुक्त अवसर क्या है? कारण कि अनायास कोई व्यक्ति मरने लगे और यह घोषणा कर दे कि मैं संथारा ले रहा हूँ तो वस्तुतः उसका यह देहत्याग संथारा की कोटि में नहीं आयेगा। इस सम्बन्ध में हम आराधनासार में उद्धृत प्रसंग पर विचार कर सकते हैं–''जरारूपी व्याधि जब देह पर आक्रमण करे, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाएँ, आयुरूपी जल पूर्णरूपेण छीज जाए, शरीर की हड्डियों की संधियों का बंध तथा शिराओं और स्नायुओं से हड्डियों के जोड़ शिथिल हो जाएँ अर्थात् शरीर इतना अधिक कृशकाय हो जाए कि वह स्वयं काँपने लगे आदि अवस्थाएँ ही संथारा ग्रहण करने के लिए उपयुक्त हैं।''[4] यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि पूर्ण निःसहायता की अवस्था में ज्ञान से युक्त होकर ही संथारा ग्रहण किया जा सकता है। इस संबंध में हम आचार्य श्री तुलसी के मंतव्य को भी देख सकते हैं–''व्यक्ति का जीवन जब भारस्वरूप हो जाए (वृद्धावस्था, रोग, उपसर्गादि के कारण) तथा वह अपनी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन ठीक से नहीं कर पाए तो धर्म की रक्षा हेतु संथारा व्रत ले सकता है।''[5] इन सबका प्रतिफलित यही निकला कि व्यक्ति संथारा निम्नलिखित परिस्थितियों में ग्रहण कर संकता है–

१. शारीरिक दुर्बलता।
२. अनिवार्य मृत्यु के प्रसंग उपस्थित होने पर।
३. अनिवार्य कार्यों के सम्पादन नहीं कर सकने की परिस्थिति में।
४. धर्म रक्षा हेतु।

योग्यता–संथारा कौन ले सकता है और कौन नहीं, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इसका समाधान जैन ग्रंथों के आधार पर ही करने का प्रयास किया जा रहा है। उत्तराध्ययन में लिखा गया है कि संयमशील, जितेन्द्रिय और चारित्रयुक्त सकाम तथा अकाम मरण के भेद जानने वाले तथा मृत्यु के स्वरूप के ज्ञाता एवं मृत्यु से भयभीत नहीं होने वाले व्यक्ति ही संथारा लेने के योग्य हैं।[६] यहाँ योग्यता संबंधी विवेचन स्पष्ट है। प्रायः कोई भी मरना नहीं चाहता है। अंतिम क्षण तक व्यक्ति जीना चाहता है। मृत्यु को स्वीकार करना सबके वश की बात नहीं है। आचार्य वट्टकेर द्वारा प्रस्तुत विचार अत्यन्त उल्लेखनीय है–ममत्वरहित, अहंकार रहित, कषायरहित, धीर, निदानरहित, सम्यगृदर्शन से संपन्न, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला, सांसारिक राग को समझने वाला, अल्प कषाय वाला, इन्द्रिय निग्रह में कुशल, चरित्र को स्वच्छ रखने में प्रयासरत्, संसार के सभी प्रकार के दुःखों को जानने वाला तथा इनसे विरत रहने वाला व्यक्ति संथारा लेने का अधिकारी है।[७] व्यक्ति सबसे अधिक मोह अपने से ही करता है। सामान्य रूप से उसके सारे प्रयत्न चाहे वे परोक्ष हैं या प्रत्यक्ष शरीर को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से ही किए जाते हैं। ऐसे शरीर का त्याग करना साधारण बात नहीं है। इसके लिए व्यक्ति को संयमी, ज्ञानी, भौतिक-अभौतिक सुखों को समझने वाला होना चाहिए। उसमें निम्न गुणों का समावेश अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

१. सांसारिक आकांक्षाओं से मुक्त।
२. इन्द्रिय जीत।
३. राग-द्वेष से मुक्त।
४. अल्प कषाय वाला।
५. गृहीत व्रतों के महत्त्व को समझने वाला।
६. जीवन और मृत्यु दोनों को अनिवार्य एवं आवश्यक मानने वाला।

विधि–जैन ग्रंथों में संथारा लेने की विधि का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। यहाँ छह मास से लेकर बारह वर्ष तक के संथारा का विधान मिलता है। समयावधि के अनुसार जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट ये तीन प्रकार के संथारा माने गए हैं। इनका काल क्रमशः छह मास, १२ मास तथा १२ वर्ष का है।[८] उत्कृष्ट जिसका कालमान १२ वर्ष का है उसमें साधक विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं जो इस प्रकार है[९]–वर्ष के प्रथम चार वर्ष में साधक दुग्ध आदि विकृतियों (रसों) का परित्याग करता है तथा दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करता है फिर दो वर्ष तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और फिर एक दिन भोजन) करता है। भोजन के दिन आयाम आचाम्ल करता है। तत्पश्चात् ग्यारहवे वर्ष में पहले छह महीने तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चोला) तप नहीं करता है तथा बाद के छह महीने में विकृष्ट तप करता है। इस पूरे वर्ष में पारणे के दिन आचाम्ल किया जाता है। बारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि सहित अर्थात् निरंतर आचाम्ल करके फिर मुनि द्वारा पक्ष या एक मास के आहार से अनशन तप किया जाता है।

संथारा लेने के क्रम में आहार का त्याग तो किया ही जाता है लेकिन साधक को कुछ अन्य उपक्रम भी करने पड़ते हैं। साधक सर्वप्रथम ऐसे स्थान की खोज करता है जहां वह शांतिपूर्वक अपने तपों का अभ्यास कर सके। इस हेतु वह ग्राम या वन में जाकर अचित्त भूमि का अवलोकन करता है और वहाँ कुश, घास आदि अचित्त वस्तुओं की सहायता से संस्तारक बना लेता है।[१०] इस संस्तारक पर आरूढ़ होकर वह समत्व की साधना करता है। वह राग-द्वेष से मुक्त होकर अपने शरीर के प्रति होने वाले ममत्व का भी त्याग करता है। रेंगने वाले जंतु जैसे चींटी आदि प्राणी या आकाश में उड़ने वाले पक्षी चील, गिद्धादि जमीन के अंदर रहने वाले जन्तु यथा सर्पादि उसके शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं तो वह इनसे विचलित नहीं होता है। इनसे होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है।[११] वह जन्म और मरण के संबंध में विचार करता है और दोनों को जीवन के लिए आवश्यक मानता है। वह यह विचार करता है कि हर्ष, विषाद, जरा आदि शरीर के ही कारण हैं क्योंकि यह शरीर ही जन्म-मरण, सुख-दुःख का उपभोग करता है।[१२] इस प्रकार वह ममत्व रहित होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। जब मरण काल आता है तो बिना किसी भाव के सहजतापूर्वक उसे स्वीकार करते हुए देहत्याग करता है।

भेद–संथारा के तीन भेद हैं[१३]–(क) भक्त प्रत्याख्यानमरण, (ख) इंगिनीमरण और (ग) प्रायोपगमनमरण।

(क) भक्तप्रत्याख्यानमरण–चारों प्रकार के आहार (अशन, पान, खादिम, स्वादिम) का त्याग करके समभावपूर्वक देह त्याग करने की कला को भक्तप्रत्याख्यानमरण संथारा कहते हैं। इसे स्वीकार करने वाला साधक अपने शरीर की सेवा स्वयं करता है और दूसरों से भी करवा सकता है। इसकी अवधि कम से कम अन्तर्मुहूर्त अधिकतम बारह वर्ष तथा मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से कम है।[१४]

(ख) इंगिनीमरण–इस संथारा को ग्रहण करने वाला साधक एक क्षेत्र नियत कर लेता है तथा ऐसी प्रतिज्ञा ले लेता है कि इस सीमा क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा। इस संथारा व्रत को स्वीकार करने वाला अपने शरीर की सेवा स्वयं करता है किसी अन्य से नहीं करवाता है।

(ग) प्रायोपगमन मरण–संथारा की इस प्रक्रिया में साधक अपनी संपूर्ण क्रियाओं का निषेध कर देता है। वह अपने शरीर की सेवा न तो स्वयं करता है और न किसी से करवाता है।

अतिचार–संथारा के क्षण में व्यक्ति के मन में नाना प्रकार के विचार चलते रहते हैं लेकिन जिन विचारों के कारण

यह व्रत खंडित हो सकता है उन्हें अतिचार कहते हैं। इनकी कुल संख्या पाँच मानी गई है[१५]– १. जीविताशंसा, २. मरणाशंसा, ३. भयानुशंसा, ४. मित्रागुराग और ५. निदानुशंसा.

१. जीविताशंसा–अधिक समय तक जीवित रहने की अभिलाषा। संथारा लेने वाले साधक को मन में यह विचार नहीं रखना चाहिए कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता।

२. मरणाशंसा–शीघ्र मरण की कामना। व्रत में होने वाले कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की कामना नहीं करनी चाहिए।

३. भयानुशंसा–मैंने अपने जीवन में कई तरह के उपभोगों का भोग किया है। मैं इस प्रकार सोता था, खाता था, पीता ता आदि प्रकार के भावों का चिन्तन करना अतिचार है।

४. मित्रानुरागशंसा–पूर्व में, बाल्यावस्था में, युवावस्था में अपने मित्रों के साथ की गई गतिविधियों को याद करना एवं उससे दुःखी होना भी अतिचार है।

५. निदानानुशंसा–लोक-परलोक के विषय में चिन्तन करना तथा यह सोचना कि मेरे इस कठिन व्रत का फल क्या मिलेगा निदानानुशंसा अतिचार है।

इस तरह जैन दर्शन में उल्लिखित संथारा की अवधारणा पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

पता
सहायक आचार्य
जीवन विज्ञान विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू।

●●

संदर्भ स्थल

१. सहायक-आचार्य, जीवन विज्ञान विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं–३४१३०६, राजस्थान।

२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु विमोचन माहुः सल्लेखनामार्याः॥ *–रत्नकरंडकश्रावकाचार, ५/१*

३. उत्तराध्ययन सूत्र, ७/२,३२

४. आराधनासार, २५-२८

५. आयारो, पृ. २९३

६. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं संजयाणं वुसीमओ।
न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया॥ *–उत्तराध्ययन, ५/२९*

७. णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिदिओ धीरो।
अणिदाणो दिठ्ठिसंपण्णोमरंतो आराहयो होइ॥ *–मूलाचार, १०३*

८. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे।
संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया॥ *–उत्तराध्ययन,३६/२५*

९. वही., ३६/२५२-२५४
भगवती-आराधना, २५५-२५६

१०. गामे अदुवा रण्णे थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पाणं तु विण्णाय तणाइं संथरे मुणी॥ *–आचारांग (संपा.–श्रीचन्द सुराणा), ८/८/२२*

११. पाणा देहं विहिंसंति ठाणतो ण वि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणों घियासए॥ *–वही., ८/८/२५*

१२. णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्ति सरीरादो॥ *–मूलाचार, ११९*

१३. स्थानांग, २/४/४१४, भगवती-आराधना, विजयोदया टीका, पृ. ५१, समाधिमरणोत्साह दीपक, ९१

१४. गोम्मटसार (कर्मकांड), ६०

१५. जीवितमरणासंसा मित्रानुरागसुखानुबंध निदान-करणानि॥ *–तत्त्वार्थ सूत्र, ७/३२*